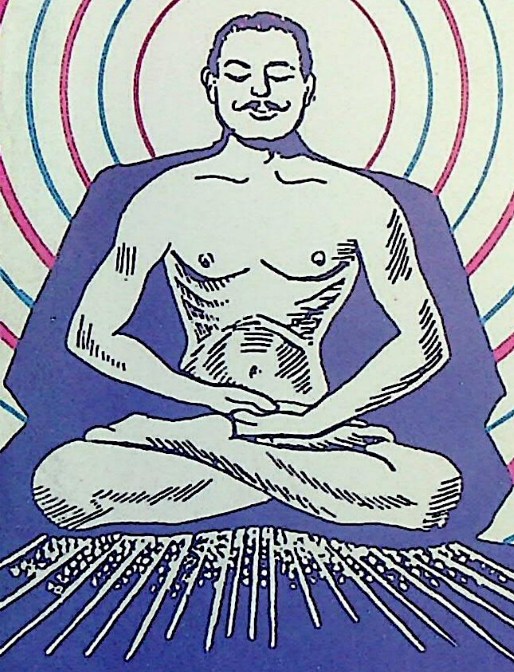
गोरक्षपद्धति



खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

श्रीवेंकटेश्वराय नमः

गोरक्षपद्धति

★

राजधानी टीहरी, जिला-गढ़वालनिवासि-

पं०–महीधरशर्मकृतभाषा-

नुवादसहिता

★

मुद्रक व प्रकाशक—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष–"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेस,

७ वीं खेतवाड़ी,

बम्बई.

संस्करण : मार्च २०१८, संवत् २०७४

मूल्य : ७० रुपये मात्र ।

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,™
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers :
Khemraj Shrikrishnadass,
Prop: Shri Venkateshwar Press,
Khemraj Shrikrishnadass Marg, 7th Khetwadi,
Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.Khe-shri.com
Email : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s. Khemraj Shrikrishnadass Proprietors Shri Venkateshwar Press, Mumbai - 400 004, at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411 013.

प्रस्तावना

समस्त साधनोंका मूल योग है, तप, जप, संन्यास, उपनिषद् ज्ञान आदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंतु सर्वोत्कृष्ट योग ही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक हैं। इसके मुख्यकर्त्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा कि ब्रह्माजीकी कथा से योगी याज्ञवल्क्यस्मृति बनी है । विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता एवं भागवत्के ग्यारहवें स्कंधमें कहा है कि इसके मुख्य आचार्य्य आदिनाथ (शिवजी) हैं । इन्हींसे नाथ संप्रदाय हुआ । एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुना रहे थें, वह एक मछलीने सुनकरही दिव्य ज्ञान तथा दिव्य-देह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ हुये और मत्स्येंद्रनाथ शाबरनाथ (जिन्होंने साबर-ग्रंथ बनाये हैं) आनंदभैरव नाथ, चौरंगी आदिकोंसे योग पाकर यथेच्छ विचरते थे कि, एक स्थानमें हाथ पांव कटे हुए चोरको देखा । उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हाथ-पांव उग आये तथा ज्ञान भी हो गया । मत्स्येंद्र-नाथके कृपासे योग पाकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात हुआ और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष; बिलेशय, मंथानभैरव, सिद्धवृद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यानंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक तारानाथ इत्यादि योगसिद्धि पाकर योगाचार्य हुए हैं। योगहीके प्रभावसे महासिद्ध अखंड ऐश्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत, ब्रह्मानंदमें मग्न हो ब्रह्मांडमें विचरते हैं । इसमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्ष-नाथ, योगविद्याके आचार्य हुये, गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राज-योग, हठ योग आदि बहुविस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, यह " गोरक्ष-पद्धति" नामक ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्व समुच्चय सारभूत प्रकट किया । सर्व-साधारणके सुबोधार्थ महीधर शर्मा राजधानी टेहरी जिला गढ़वालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया ।

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबंध अधिकारी कहे हैं, (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८) में दशनाडी स्थानों-सहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महा-

मुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान (१३) में समाधि, (४) मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तर शतकमें कहें हैं। ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालों को अतिउत्तम तथा सुगम है। योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पड़ता है, विशेषतः संध्या, पूजन आदि द्विजन्माओंके नित्यकर्म भी विना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम " बद्धपद्मासनो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत् ।" तथा पूजनमें " स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य" इत्यादि सर्वत्र विधिवचन है । यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासन आदि कहां से जाने । इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादि साधन निरर्थक हैं। इस समय बहुधा लोग नाकपर हाथ लगानेको प्राणायाम समझते हैं, पद्मासनादिकोंका तो नाम भी नहीं है तब कहांसे सिद्धि हो इसी लिए नास्तिक लोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्य शब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं ।यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंके उन विवरोंमें मिट्टी पड़े और योगग्रंथ बहुत बड़ा तथा कठिन है ये २ शतक थोड़े ही में ज्ञान देते हैं इस लिए मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोड़ाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधन योगमार्गकी महिमा जान जायँगे । पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रंथोंसे बढ़ाकर गोरक्ष पद्धति कर दिया और यह ग्रंथ " लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेके अधिकारी गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित दे दिया है जो उन्होंने अपने छापखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है ।

पंडित—महीधरशर्मा
जिला—गढ़वाल, राजधानी टीहरी.

श्रीगणेशायनमः

अथ

गोरक्षपद्धति

भाषानुवादसहिता



श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिं
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यया ।। १ ।।

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगी को प्रणाम करके महीधर नामा, गोरक्षयोग शास्त्र जो योगींद्र गोरक्षनाथने दो शतकमें शिष्योपकारार्थ बनाया है, उसकी भाषाटीका करता है जिससे योगमार्गका सभीको सुगमतासे बोध होता है। योगपदका अर्थ मेल है, जैसे– 'ह' का अर्थ सूर्य्य 'ठ' का चन्द्रमा है इनके योग (मेल) को हठ योग कहते हैं इसीको राजयोग भी कहते हैं। प्राण, अपानवायु जिनकी सूर्य चन्द्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसको हठयोग कहते हैं ।।१।।

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सानिध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ।। २ ।।

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारण कर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदल कमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रन्थारंभमें विघ्नविघातार्थं प्रणाम करते हैं, कि जीव ब्रह्मकी एकता योगशास्त्रका प्रयोजन है। सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक

रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीर भी आनन्दमय हो जाता है, आनन्दही परब्रह्मका रूप है । श्रुति भी कहती है कि, " आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् " यदि ऐसा न हो तो उसकी पहचानभी नहीं हो सके, क्योंकि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।" इत्यादि गीता । एवं वेदांत ग्रन्थोंमें लिखा है कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्ति आदि कुछ नहीं है, केवल आनन्दमय स्वयं प्रकाशमान है, तथा निर्विकल्प आनन्दमय हो जाने को ही मुक्ति कहते हैं । ऐसे परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीर भी आनन्द ही है) वंदना करके ग्रन्थारम्भ करत हैं, जिससे सानिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात् (केवलानुभवानन्द) से वह आनन्दात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेसे अपनेही बीच पाया जाता है, न कि इतस्ततः तीर्थ यात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीसे साध्य है। यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है। नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि गुरुकृपा बिना नहीं मिलती। बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती, श्रुतिभी कहती है कि " ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः " । मुक्तिपदार्थ ही आनंदमय हो जाना है, योगसे ज्ञान पाकर जीव परमात्माका एकभाव होनेपर वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म साक्षात्कार होता है । इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानंदमय आपही योगी हो जाता है, जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं. ज्ञानभूमि १, विचारणा २, तनुमानसा ३, सत्त्वापत्ति ४, संसक्तिनामिका ५, पदार्थभाविनी ६, तुर्यगा ७ ये सात हैं विवेक वैराग्य है, प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूपा पहिली, श्रवणमननरूपा दूसरी, मनमें अनेक अर्थ संकल्प-विकल्प उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, इन सभीको छोड़कर सत् एकार्थमें वृत्ति होनी तनुमानसा तीसरी, ये तीन साधनभूमिमें

हैं इनसे जब अन्तःकरण शुद्ध हो तब " अहं ब्रह्मास्मि " मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहता है । समस्त साधन पूजनजपादिकमें " अह ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत् " लिखा है, यह भावनाविना उक्त तीन भूमिका साधे होती ही नहीं है,इसलिये विना मार्गके कुछ भी साधन नहीं होता है । चौथी, सत्वापत्ति ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसे जब योगी प्राप्त करता है तब ब्रह्मवित् कहलाता है । इसी सत्वापत्तिभूमिमें समीपही वही जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना इसे असंसक्ति नाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहते हैं। इसमें जब योगी प्राप्त हो तो उसे ब्रह्मविद्वर कहते हैं । जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थकी भावना न करे वह पदार्थभाविनी छठी ज्ञानभूमि है, इसमें जब योगी प्राप्त होता है तो वह दूसरोंके बोधन करनेसे मात्र प्रबुद्ध होता है, नहीं तो एकाग्र शून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं । तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ट कहते हैं । इतने साधनाओंसे स्वात्माराम, चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदि योगी आपही हो जाता है, कालरहित होता है, " अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ।" जो मीननाथ योगीश्वर मूलाधारबंध, उड्डीयानबंध जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला का साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वंतर, कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहचानकर योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानानंदरूपी समुद्र होकर गुप्त प्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण

होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे आपही साक्षात् शिव हो गया है, ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्कार करता हूं ।।२।।

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ।। ३ ।।

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गको बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं, जो योगियोंको (मनोवांछित) है तथा परमयोगानंद यद्वा ब्रह्मानंद है । कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध हो तब योग-शास्त्रका अधिकारी होता है ।। ३ ।।

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ।। ४ ।।

योगिजनोंके हितके लिये गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नामक योगशास्त्र कहता है, जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवन्मुक्ति होती है अर्थात् जहां पहुँचकर पुनरावृत्ति नहीं होती।।४।।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ।। ५ ।।

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हटकर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जाये तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढ़ापा) , मृत्यु (मरण) को जीतता है, मुक्तिका सोपान (सीढ़ी) यही कर्म है, और कालकी वंचना भी यही है ।।५।।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ।। ६ ।।

सज्जनको संबोधन करके गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम, श्रेष्ठ जनो ! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन

करो जिसकी शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करता है ।।६।।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ।। ७ ।।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योगके छः अंग हैं, इनका विस्तार आगे कहेंगे । यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यास करके समाधिका लाभ होता है, जिससे निर्विकल्प समाधि से राजयोग सिद्ध होता है तब चिदानंदस्वरूप होकर स्वयं योगानंदको प्राप्त होता है ।।७।।

आसनानि

आसनानि च तावन्तो यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ।। ८ ।।

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि, जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसन भी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं । इनके संपूर्ण भेदोंके जाननेवाले केवल शिवजी ही हैं और कोई नहीं जानता ।।८।।

चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ।। ९ ।।

चौराशी लक्ष आसनोंका भेद मनुष्योंसे न जाने जायँगे ऐसा जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौरासी (८४) आसन मात्र योगशास्त्रमें प्रगट किये । यही सबके सार हैं ।।९।।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ।। १० ।।

इन ८४ आसनोंमें भी, बहुत विस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकार हेतु दो ही आसन मुख्य कहे हैं । ग्रंथमें सुगमताके लिये एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाता है।।१०।।

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ।। ११ ।।

सर्वोत्कृष्ट दो आसनों में से प्रथम सिद्धासनकी विधि कहते हैं कि, गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनी) का स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ़ पीडन (दबाव) करे, दाहिने पैर की एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर हो जाती हैं तथा दोनों पैरों की अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिप जाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा, उपस्थ रुक जाते हैं । तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करे और समस्त इंद्रियोंसे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचल दृष्टि कर भ्रुकुटि (भ्रूमध्य) देखता रहे । यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड़) को खोलकर मोक्षमार्ग दिखाता है अर्थात् जो कुंडलिनीसे रुका हुआ सुषुम्नाद्वारा उसे खोलकर मोक्षमार्ग (सुषुम्ना के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमलकर्णिकांतर्गत परमात्मामें पहुँचानेका यत्न करता है) यह सिद्धासन है ।।११।।

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतदव्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ।। १२ ।।

बांये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठ पीछे घुमाकर दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण करे तथा बांये हाथको पीठ पीछे घुमाकर दाहिने हाथ ऊपरसे लेजाकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे। तब चिबुक (ठोडी) को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखता रहे, यह योगियोंके समस्त रोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ।।१२।।

' प्रकारांतर से भी पद्मासन कहा है इसलिये में ग्रंथांतरमत से मत्स्येंद्रनाथके मतको भी लिखता हूं ' –

"उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ।। १ ।।

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ।। २ ।।

इंद्र पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ।। ३ ।।

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्तप्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात् पैरोंके पीठ जानु पर लगी रहें) स्थापित करके दोनों हाथ सीधे एड़ियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिण हस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे । तदनंतर राजदंत (डाढ़ों) के मूल दक्षिण वाम दोनोंमें जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७–५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ठोडी) को चार अंगुल अन्तर छोड़कर छातीसे लगाकर मन्द मन्द वायुको उठाये, यह मूलबन्ध है । (यह

भी गुरुमुखबोध्य है) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है । संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है । साधारण जनोंको दुर्लभ है, बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलता है ॥१॥२॥३॥

षट्चक्रनिरूपणम्

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ॥ १३ ॥

विषयवासनासे मन चञ्चल रहता है रोकनेसे रुकता नहीं, विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती, मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलम्बन) अवश्य होना चाहिये । इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश ये चार प्रकारके भेद (सर्व उनतीस) कहते हैं, कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं, इनका विस्तार आगे कहेंगे, आधार सोलह हैं इनके विशेष विस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रकट नहीं कहा और इनकी प्रकटताके विना सर्वसाधारणको बोध होना असम्भव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना, यहां ग्रन्थान्तरीयमतसे प्रकट करता हूं, प्रथम आधार पदांगुष्ठ है, इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १ । दूसरा आधार मूलाधारः इसे पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होती है २ । तीसरा गुह्याधार, इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपान वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर कर बिन्दुचक्रमें जाता है इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पातन करके पुनः आकोचनक्रमसे वज्रनाडी द्वारा बिन्दुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३-४ ? पञ्चम उड्डीयान बंध आधार है, पश्चिमोत्तान आसन बांधकर गुदाका संकोचन करे इससे मल-मूत्र कृमिका नाश होता है ५ । छठा नाभिमण्डलाधार,

जिसमें चैतन्य ज्योति:स्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६ । सातवां हृदयाधार, इसमें प्राणवायुको रोध करनेसे हृदयकमल विकसित होता है ७ । आठवां कण्ठाधार, इसमें ठोडी हृदयपर दृढ़तासे लगाकर ध्यान करे तो इडा पिंगलामें बहता हुआ वायु स्थिर होता है ८ । नवम क्षुद्रघंटिकाधार कंठमूल है, इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं वहां तक जिह्वा पहुँचाये तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे बहता हुआ अमृतरस मिलता है ९। दशम जिह्वामूलाधार, इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्र से मंथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १० । ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार, जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होती है ११ । बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार, जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२ । तेरहवां नासिकाग्राधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३ । चौदहवां नासिकामूलाधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यास से ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४ । पंद्रहवां भ्रूमध्याधार, जिसमें दृष्टि अचल दृष्टिके अभ्यास करनेसे सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है, इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्य्याकाशमें मनका लय होता है १५ । सोलहवां नेत्राधार, जिनके मूलमें अंगुलीसे मीचनेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यास करनेसे ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६ । ये सोलह आधार हैं अथवा मूलाधार १, स्वाधिष्ठान् २, मणिपूर ३, अनाहत ४, विशुद्ध ५, आज्ञाचक्र ६, बिंदु ७, अर्द्धेंदु ८, रोधिनी ९, नाद १०, नादांत ११, शक्ति १२, व्यापिका १३, समनी १४, रोधिनी १५ और ध्रुवमंडल, १६ ये सोलह (१६) आधार हैं, ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि

होती है, अब दो लक्ष्य कहते हैं–ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं, देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं तथा मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतर लक्ष्य हैं। पांच आकाश इस प्रकार हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है; इसके भीतर रक्तवर्ण, ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण, ज्योतिरूप महाकाश है इसके भीतर नीलवर्ण, ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है, इसके भीतर विद्युत् (बिजुली) के वर्णका, ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है-ये पांच आकाश हैं। इतने ६ चक्र, १६ आधार, २ लक्ष्य और ५ आकाश, शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥१३॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधि दैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥ १४ ॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकल वासनाओंका आश्रम मन है यही खंभारूप होकर समस्त शरीरको थामे रहता है जिसके मुख १, नेत्र २, नासिका २, कर्ण २, गुह्य १, लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररूपी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे पा सकता है ॥१४॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६ ॥

षट्चक्रोंका पृथक् वर्णन है यथा प्रथम मूलाधारचक्र-गुदा द्वारमें पीले वर्णका अधोमुख कमल है, जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स, बीज शोभित हैं, आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवण मध्य-

कर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ़ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्य समान प्रकाशमान एवं डाकिनी शक्तिसे युक्त है वहीं देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामाख्य पीठ है तिसके मध्यमें पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान चमकवाली साढ़े तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्नाके द्वारको रोक-कर सोया हुआ सर्प जैसी कुंडलिनी महाशक्ति है, जैसे पृथ्वीका आधार शेष है वैसेही शरीरका आधार यह है विना इसके जाने और उपाय योगके व्यर्थ हैं। इसलिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है। दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र–लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षड्दल ब, भ, म, य, र,ल, इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है, शुक्लवर्ण कर्णिका में अर्द्धचन्द्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर बनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनीशक्ति सहित हैं। तीसरा मणिपूरचक्र–नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ इन १० वर्णोंसे शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिका-कार तेजोमण्डल है, इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहन (रं) बीज चतुर्भुज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नील-वर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र हैं। चौथा अनाहत-चक्र–हृदयमें द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, इन १२ बीजोंमें शोभित है उसकी कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्ण-मृगवाहन (यं) बीज है इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकिनीशक्ति सहित ईश्वर हैं कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाण-लिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहलाता है। पांचवां विशुद्धचक्र–कंठ-

स्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, शोषडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन १६ वर्णोंसे शोभित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमंडल जिसमें निष्कलंक पूर्णचन्द्रमा है इसके मध्यमें श्वेत हाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश, धारण किये आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनी-शक्तिसहित सदाशिव हैं यह जालंधरपीठ कहलाता है। छठा आज्ञा-चक्र,—भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसकी कर्णिकामें हाकिनी शक्ति सहित शिव हैं, कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतरलिंग नामा शिवलिंग है ही मनका स्थान है, उड्डीयानभी इसीको कहते हैं। इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्म-रंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्णचन्द्र समान मुख, परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष इन ३ वर्णोंसे शोभित है, त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचन्द्रमण्डल जिसके मध्यमें बिजुलीके समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानन्दस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्र सूर्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचन्द्राकार निर्वाण-कला विराजमान है। इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोम समान सूक्ष्म निर्वाणशक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानन्दस्वरूपसे परे क्या अति-परे परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं. जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने—मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ।।१५ ।। १६ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कमरूपं निगद्यते ।। १७ ।।

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनि-स्थान है यही कामरूप पीठ है अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें काम-रूप पीठ है ।।१७।।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता ।। १८ ।।

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं पंचाशत वर्णसे वनी हुई कामाख्या पीठ कहलाती है ।।१८।।

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ।। १९ ।।

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्नाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्यमान बिंब है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधार मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगविद् कहते हैं ।।१९।।

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।। २० ।।

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता, तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं बिजुलीके समान चमक-दमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ।।२०।।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ।। २१ ।।

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेवाली परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिद्वारा उक्त ज्योति देखने लगता है तो उसका जन्ममरण नहीं होता अर्थात् अजरामर हो जाता है ।।२१।।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ।। २२ ।।

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान

(लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसे ही मेढ़्र कहा जाता है ।।२२।।

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।। २३ ।।

नाभिमें एक कंद है, जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गन्ध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति) इन दश कर्मोंको अपने-अपने स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुँचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है – दो दाहिनी ओर दो बांयी ओर होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनकर सर्वांगमें जालेकी तरह रोमरोम प्रति पूरित है उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होकर आता है, तथा उन्हींके मार्गोंसे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं, इस प्रकारका नाभिकन्द जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्नानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमण्डलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ।।२३।।

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ।। २४ ।।

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जाये तो ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें ही भ्रमण करता रहता है ।।२४।।

दशनाडीवर्णनम्

ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥२५॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कन्दके सदृश समस्त नाडियों का मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षीके अंडके समान आकारवाला है इससे बहत्तर(७२)हजार नाड़ी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तति रुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ॥ २६ ॥

उक्त ७२ हजार नाड़ियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमें भी प्राणवाहिनी (वायु चलानेवाली) प्रधान दशही नाडी हैं ॥ ३६ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ २७ ॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्ना ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १०ये मुख्य नाड़ियोंकेनाम हैं, यह नाड़ीमय चक्र योगाभ्यासको अवश्य जानने योग्य है, तदनंतर इन नाड़ियोंमें चलनेवाले वायुको जानना तब प्राणायामसे नाड़ीशोधन होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा दक्षिणभागमें पिंगला नाडी वहती है इनके मध्यमें सुषुम्ना नाडी रहती है, इन तीनोंकी जड़ मूलाधार-चक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है, जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिण-कोणसे पिंगला, और पश्चिमकोणसे सुषुम्ना नाड़ी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाड़ी उक्तचक्रको अंकमाल किये हैं अपनी-अपनी ओरके नासिकाछिद्रसे वहती हैं, मध्य सुषुम्ना मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यंत है। अन्य नाड़ी उक्तचक्रके कन्दसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रन्ध्र में है जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा है ।। २९ ।। ३० ।।

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ।। ३१ ।।

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कन्दसे अधो-मुख होकर नीचेको गई हैं और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको है इस प्रकार ये दश नाड़ी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं ।।३१।।

इडापिङ्गलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।। ३२ ।।

चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि हैं देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला सुषुम्ना ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ।। ३२ ।।

दश वायवः

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ।। ३३ ।।

प्राण १, अपान २, समान ३, उदान ४, व्यान ५, नाग ६, कूर्म, ७ कृकल ८, देवदत्त ९, धनंजय १०, ये दश वायु शरीरमें हैं ।। ३३ ।।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ।। ३४ ।।
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ।। ३५ ।।

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकालता तथा अन्न-पानादिकोंका परिपाक करता है १, अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २, समानवायु नाभिमें शरीरको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३, उदान वायु कण्ठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४, व्यानवायु सर्व-शरीरमें लेना, छोड़ना आदि अङ्गधर्म कराता है ५, वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान पांचही हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १, गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है २, कर्ण, नेत्र, कण्ठ, नाक, मुख, कपोल, मणिवंधमें व्यानवायु रहता है ३, सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है ४, उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें-समानवायु रहता है ५, इस कारणसे प्राणादि पांच वायु प्रधान हैं । नागादि पांच वायुका जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर कर्म करते हैं उन्हें आगे कहते हैं ।। ३४ ।। ३५ ।।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।। ३६ ।।

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है । नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृम्भा देवदत्तवायुका कर्म है ।। ३६ ।।

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ।। ३७ ।।

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है, मृतशरीरमें भी चार घटीपर्यंत यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबन्ध जीवको कराते हैं । मैं सुखी हूं अथवा मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीर में होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाड़ियों में फिरता रहता है । यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव ही है तो इसका घूमना फिरना असंभव है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्रतिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पड़ता है ऐसेही व्यवहारसे दश वायुओंका घूमना तथा इन्हींकी उपाधि जीव-चैतन्यमें आरोपित करते हैं ।। ३७ ।।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ।। ३८ ।।

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडन करके स्वतः उछलता है, वैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपान वायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जैसे गेंद खेलनेवालोंके वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया) के वशमें जीव रहता है ।। ३८ ।।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।। ३९ ।।

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके आधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा गिरके नीचे मूलाधारपर्यंत

ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यन्त फिरता ही रहता है इसके अतिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधन बिना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते बिना हृदयकमलमें ध्यान नहीं होता ।। ३९।।

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ।। ४० ।।

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधकर छोड़ देनेपर उड़ जाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है, ऐसे ही मायाके अंश सत्व-रज तमोगुणकी वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धिमें लीन होनेसे उपाधिरहित शुद्धब्रह्म होगया हो तो भी प्राणापानवायु द्वारा फिर खींचा जाता है जाग्रत् अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुए की वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है ।। ४० ।।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ।। ४१ ।।

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने-अपने ओर आकर्षण करते हैं। योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इन्हींको जोड़कर योग (जोड़ना) कहते हैं इसी योग जोड़नेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहलाते हैं ।।४१।।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।। ४२ ।।
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।। ४३ ।।

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकार द्वारा स्वाधिष्ठाचनक्रसे उत्पन्न होता है और सरकारद्वारा मलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है इस प्रकार से 'हंस' मंत्र (अजपा-

गायत्री) का जप जीव नित्य करता ही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है। सूर्योदयसे पुनः सूर्यास्त्त पर्यन्त ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या २१६००होती है, इतना जप जीव स्वतः करता है ।। ४२ ।। ४३ ।।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ४४ ।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।। ४५ ।।

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है । इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छट जाता है । संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहिलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्ध आसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इसप्रकार करनाकि अद्येह पूर्वेद्युरहोरात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैक विंशतिसहस्रसंख्याका गायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहताविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरी प्राणशक्ति-ज्ञानशक्ति चिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं , सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपा-गायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालादारभ्य द्वितीयप्रातःकालर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासानिःश्वासात्मकं षट्शताधिकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्री जपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमानजपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् । इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है । यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है. इसके समान और जप नहीं, क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है, उपरांत खाते—पीते चलते

उठते -बैठते-सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहले भी नहीं था और पीछे होनेवाला भी नहीं है ।।४४ ।।४५ ।।

कुण्डलिन्यां समुद्‌भता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।। ४६ ।।

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है । जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्या-स्वरूप भी यही है इसी कारण महाविद्या भी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ।।४६ ।।

शक्तिचालनम्

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।। ४७ ।।

अब कुंडलिनीके भेद खोलने के निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीके अन्य स्थान भी कहते हैं, जो कि समस्त ७२००० नाड़ियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृत्तकरके वेष्टित हो रही कुंड-लिनिशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोककर सर्वदा रहती है ।।४७।।

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।। ४८ ।।
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ।। ४९ ।।

जिस मार्ग (सुषुम्ना) द्वारा जन्ममरणके दुःख हरण करने-वाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोककर सोई हुई

कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके सबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होकर सुषुम्नानामा मध्यनाड़ीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है वैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवता-प्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सम्मुख होकर जाती है ।। ४८ ।। ४९ ।।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ।। ५० ।।

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पाकर अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलमति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्नामार्गसे ऊपरको जाती है ।। ५० ।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ।। ५१ ।।

जैसे कूंची (चाबी) से ताला खुलकर कपाट (किवाड) खुल जाते हैं वैसेही कुंडलिनी द्वारा मोक्षद्वार सुषुम्नाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधबिना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ।। ५१ ।।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ।। ५२ ।।

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधकर) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोड़ी) हृदयमें दृढतर लगाकर अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिः-स्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोककर करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद२ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है, कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद(पसीना)आता है उससे अंगमर्दन करे । लवण और खट्टा, ये दो रस न खाये केवल दुग्धान्न खाया करे। भोजनभी एक प्रमाणसे करे, ब्रह्मचर्य रक्खे, कामक्रोधसे रहित रहे, त्यागवान् हो और योगाभ्यासमात्रका अभ्यास रक्खे इसप्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे। एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है या नहीं ऐसा संदेह न करना । अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ॥ ५४ ॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्चते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्चते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं—स्निग्ध (सचिकण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे, दो भाग अन्न एक भाग जल खाये चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड़ दे। देवता को निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार करनेवाला योगी मिताहारी कहलाता है ।। ५५ ।।

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ।। ५६ ।।

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रकी कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप वन्धन छुड़ाकर मोक्ष देती है ।। ५६ ।।

शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेष:

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।। १ ।।

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) को प्राप्त करती है ।। १ ।।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ।। २ ।।

इडा भगवती वामश्वासा नाड़ी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाड़ी सुषुम्ना बालरंडा है ।। २ ।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ।। ३ ।।

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रके मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमल-वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ।। ३ ।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।। ४ ।।

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एड़ी पकड़ कंदस्थानमें दृढ लगाकर पीडन करे ।। ४ ।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।। ५ ।।

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ।। ५ ।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।। ६ ।।

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलाये इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड़ गया हो तो भी उसकी मृत्यु न हो ।। ६ ।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ।। ७ ।।

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कुछ सुषुम्नामें ऊपरको उठती है ।। ७ ।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ।। ८ ।।

इसके कुंडलिनी (जो सुषुना रोक बैठी है) सुषुम्नाके द्वारको छोड़ देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्नामें प्रवेश करता है ।। ८ ।।

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।। ९ ।।

अतः नित्यप्रति सुषुम्नाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलाये तो योगी सब रोगोंसे छूट जाता है ।। ९ ।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।। १० ।।

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहज ही जीत लेता है ।। १० ।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।। ११ ।।

जो यमी नित्य कुंडलीको चलाकर भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेष करके करता है उसे यमका भय नहीं होता ।। ११ ।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।। १२ ।।

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि द्वारा मध्यनाड़ी सरल हो जाती है ।। १२ ।।

महामुद्राः

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ।। ५७ ।।

महामुद्रा१, खेचरीमुद्रा २, उड्डीयानबंध३ , जालंधर ४, मूलबंध ५, इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है। शक्ति चली या नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेके समान गतिसा ज्ञान होता है कि कोई जीव चलता है ऐसेही सुषुम्नामें वायु जब चलने

लगता है तो शक्ति चलायमान हो गई जानना । शक्तिचालन मुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी चाहियें ।। ५७ ।।

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैरेचये-
देषाव्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ।। ५८ ।।

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एड़ीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकड़कर रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे । कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्दमन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनकी समस्त रोग-नाशक महामुद्रा कही गयी है ।। ५८ ।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ५९ ।।

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे वैसे ही प्राणायाम भी करता रहे, जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोड़नी चाहिये ।। ५९ ।।

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ६० ।।
क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।। ६१ ।।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।। ६२ ।।

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ़ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता । जो (घृत, शहद बराबर मिलाकर कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु या घोरविषभी खाये तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त , गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग शांत हो जाते हैं । इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है, इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना, प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है, इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि को न देना ।। ६० ।। ६१ ।। ६२ ।।

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं,–

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडच दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।। १ ।।

वामपादकी एड़ीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोककर दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाकर एड़ी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडके नाईं' रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकड़कर धारण करे ।। १ ।।

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।। २ ।।

तदनंतर कठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्नामें धारण करे इससे मूलबंध भी हो जाता है जहाँ योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ।। २ ।।

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ।। ३ ।।

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्ति भी कुटिलताको छोड़कर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और

कुंडलिनी बोधसे सुषुम्नामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनों को प्राणके वियोगसे इडा-पिंगला है आश्रयं जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ।। ३ ।।

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।। ४ ।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।। ५ ।।

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं । इसके अभ्या-ससे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा-मरण भी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ।। ४ ।। ५ ।।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ६ ।।

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबतक वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तब तक अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाकर दाहिना पाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे यह वामागांभ्यास है। इससे पूरित जो वायु वह वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट कर उसकी एडी योनिमें लगा-कर वामपाद लंबा फैलाकर अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ और तर्जनीसे पकड़कर अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांग ही में रहता है ।। ६ ।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ७ ।।

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासके लिए पथ्यापथ्यविचार नहीं है। कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाये वही पच जाये नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदि भी अमृतके समान पच जाये ।। ७ ।।

क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्या दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।। ८ ।।

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ।। ८ ।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। ९ ।।

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेवाली यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ।।९ ।।

खेचरीमुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।। ६३ ।।

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको, उलटी फिराकर कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरी-मुद्रा कहते हैं ।। ६३ ।।

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६४ ।।

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गद्वारा छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) विधि से खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता

है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ।। ६४ ।।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।। ६५ ।।

जो योगी खेचरीमुद्रा जानकर उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीड़ित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ।। ६५ ।।

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ।। ६६ ।।

जिस कारण वहाँ परब्रह्मके लिए एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य होकर फिरता है तथा जिह्वा भी कंठमूल छिद्राकाशमें रहकर ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धि के विषयबंधन निवारण करनेवाली खेचरीमुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ।। ६६ ।।

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ।। ६७ ।।

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाड़ीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाड़ी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाड़ी बिंदुके आधारमें हैं ।। ६७ ।।

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ।। ६८ ।।

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषे खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी

(स्त्री) आलिंगन करे तो भी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ।। ६८ ।।

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।। ६९ ।।

जबतक देहमें बिंदु स्थिर है, तबतक मृत्युका भय नहीं होता, बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है। जबतक खेचरीमुद्रा दृढ है तब तक बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता। इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ।। ६९ ।।

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ।। ७० ।।

कदाचित एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्रा द्वारा कुण्डलिनीशक्तिको ऊपर उठाकर उसके आघात से उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटकर अपनेही स्थान में पहुँचकर स्थिर रहता है ।। ७० ।।

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ।। ७१ ।।

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है—एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं, दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ।।७१।।

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।। ७२ ।।

तैल मिलाकर सिंदूर (हिंगुल) के द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चन्द्रमाके स्थान कण्ठदेश षोडशाधारचक्र में स्थिर रहता है, इन दोनों का ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ।। ७२ ।।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।। ७३ ।।

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि और परमपद मिलता है। चन्द्रमा सूर्यका (प्राणवायु-अपानवायुका, जीवात्मा-परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोग है।। ७३ ।।

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ।। ७४ ।।

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं ।। ७४ ।।

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ।। ७५ ।।

शुक्र बिंदुरूप हो चन्द्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समर-सत्वभाव) को जो योगी जानता है वही योगवित कहलाता है, चन्द्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं ।। ७५ ।।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ।। ७६ ।।

नाडीजालके शोधनेसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है। चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राद्वारा नाडीजलका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसों का शोषण होता है ।। ७६ ।।

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।

यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं– छेदन चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढ़ती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींच-खींचकर जिह्वाको लंबी करे, जब तक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तवक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।

समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं–थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।

पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

उसके बाद सेंधानमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परन्तु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है, ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे, पुनः उक्त औषधि लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।

षण्मासाद्रसनामूलशिलां बन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाड़ी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।। ५ ।।

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाड़ियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ।। ५ ।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।। ६ ।।

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वा प्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छू आदियोंका विष न लगे और बुढ़ापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढ़ापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पड़ती है) न हो ।। ६ ।।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ।। ७ ।।

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगा करके भ्रूमध्यगत चन्द्रमासे निकले हुए अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसन्देह जीत लेता है यह निश्चय है ।। ७ ।।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि डंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।। ८ ।।

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चन्द्रामृतद्वारा पूर्ण हो जाय उसे तक्षकनागभी डसे तो भी विष न लगे, दुःख न होवे ।।८।।

ईन्धनानि यथा वह्नि स्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।। ९ ।।

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित बत्तीको नहीं छोड़ता वैसेही चन्द्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोड़ता ।। ९ ।।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।। १० ।।

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमरवारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ।। १० ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। ११ ।।

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहाँ जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ।। ११ ।।

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सार सा स्यादमरवारुणी ।। १२ ।।

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वाम भागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ।। १२ ।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १३ ।।

जब पूर्वोक्त कर्मोंसे जिह्वा बढ़कर उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरीचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृत आदि के स्वाद ज्ञान होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है, शस्त्र (जो अपनेको काटने आया)

का निवारण होता है, आठों सिद्धि मिलती हैं, देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ।। १३ ।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।। १४ ।।

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाकर मुख विपरीतकरणीकी तरह ऊँचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदल-कमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे तो उसे ज्वरादिरोग न हो तथा कमलके गाभेका-सा कोमल शरीर हो और बहुतकालपर्यंत जीवित रहे ।। १४ ।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। १५ ।।

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्नाके उपरी भागमें स्थित चंद्रा-मृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी आदि नाड़ियोंका उक्त विवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता है । इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती इस मुद्राके विना-देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ।। १५ ।।

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्ये निरञ्जने ।। १६ ।।

इडा १, पिंगला २, सुषुम्ना ३, गांधारी ४, हस्तिजिह्वा ५, इनका प्रवाह ऊपरको है अतः इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है, जो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं । ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ।। १६ ।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।। १७ ।।

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है, समस्त देवताओं-में भगवान मुख्य है, वैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ।।१७।।

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।। ७७ ।।

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहीं भी विश्राम न करके उड़कर सुषुम्नामें गति करता है, उसी कारण वहां मृत्यु-रूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यह बंध कहा जाता है ।। ७७ ।।

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ।। ७८ ।।

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं—उदरसे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ।। ७८ ।।

ग्रन्थान्तरे

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। १ ।।

नाभी के ऊपर तथा नीचे का भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं, मृत्युरूपी गजको मारने के लिये सिंह समान है ।। १ ।।

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ।। २ ।।

हितोपदेशकर्त्ता गुरु द्वारा उड्डीयान को सरलता से कहे गये इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्ध भी तरुण हो जाये ।। २ ।।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।। ३ ।।

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगाये, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीत ले ।। ३ ।।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ।। ४ ।।

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है, यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है । इसके करनेसे पक्षियोंकैसी गतिकरके सुषुम्नाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ।। ४ ।।

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ।। ७९ ।।

जालंधरबंध कहते हैं—यह बंध कंठस्थानमें होता है, अनेक रोगोंको हरता है, शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है, व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण यह जालंधर बंध कहलाता है ।। ७९ ।।

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।। ८० ।।

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है । इससे चंद्रकलामृत गिरकर सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ।। ८० ।।

ग्रन्थान्तरे

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।। १ ।।

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं—कि कंठ नीचे झुकाकर हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढ़ी को दृढता से स्थापन करे, यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ।। १ ।।

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।। २।।

दृढ संकोचनमात्र द्वारा इडा पिंगला दोनों नाडी स्तंभित होती हैं, कंठस्थानमें जो विशुद्धनामक चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन षोडश आधारोंका वर्णन पूर्व १३ वें श्लोक की टीकामें कर आये हैं ।। २ ।।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ।। ३ ।।

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कण्ठ नमाय जालंधरबंधसे इड़ा-पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिम-मार्ग सुषुम्नामें प्राणवायुको प्राप्त करे ।। ३ ।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ।। ४ ।।

इस विधिसे वायुकी गति बन्द होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थिर रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं । इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ।। ४ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ।। ५ ।।

मूलबंध १, उड्डीयानबंध २, जालंधरबंध ३, ये सभी श्रेष्ठ हैं, मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायों की सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ।। ५ ।।

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ।। ६ ।।

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चन्द्रमासे अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहकी वृद्धावस्था होती है ।। ६ ।।

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ।। ७ ।।

इस प्रकरणमें उक्त सूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे अमृत सूर्यके मुखमें न पड़े यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्रा भी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं बिना गुरु करोड़ों शास्त्रों से भी नहीं जाने जा सकते हैं ।। ७ ।।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ।। ८१ ।।

अपानवायु ऊपर खींचकर प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एड़ीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ़ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलबंध होता है ।। ८१ ।।

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।। ८२ ।।)

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल-मूत्र क्षय होते हैं और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ।। ८२ ।।

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १, खेचरी २, उड्डीयान ३, जालंधरबंध ४, मूलबंध ५, कही हैं अन्य महाबन्ध १,महावेध २, विपरीतकरणी मुद्रा ३, वज्रोली ४, शक्तिचालन ५, ये पांच इसी शतकमें साधारण रूप से ही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये हैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसे भी लिखता हूं'–

तत्र प्रथमं महाबन्धः

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। १ ।।

वामपादकी एड़ीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर रखकर अर्थात् मूलबंध करके ।। १ ।।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीडच वायुमाकुञ्च मनोमध्ये नियोजयेत् ।। २ ।।

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्ना में प्रवृत्त करे ।। २ ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।। ३ ।।

यथाशक्ति कुंभक करके मन्द २ रेचन करे, ऐसे ही वामांगमें अभ्यास करे, दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ।। ३ ।।

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।। ४ ।।

यह समस्त नाड़ियोंको ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ।। ४ ।।

कालपाशमहाबन्धविमोचन विचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।। ५ ।।

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें ले जाये ।। ५ ।।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।। ६ ।।

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष बिना व्यर्थ है ऐसेही महावेध बिना महामुद्रा और महाबंध निष्फल है इसलिये अब महावेध कहते हैं ।। ६ ।।

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निवृतं कण्ठमुद्रया ।। १ ।।

एकाग्रबुद्धि द्वारा योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुट-से पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करें ।। १ ।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।। २ ।।

दोनों हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरकर एडीको योनि—स्थानमें दृढ लगाये हुए हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठाये (परन्तु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मन्द-मन्द पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्नामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूप-दिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठाकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती । यदि बलसे रक्खा भी तो मूलबंध बिगड़ जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है और भी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमता ही से होता है ।। २ ।।

सोमसूर्याग्निसबन्धो जायते चामृताय वै।
मृताऽवस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचन्द्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्नाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मन्द २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं, वली (बुढ़ापेमें मुखपर सलवटें पड़नी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढ़ापेमें शरीर कांपना) ये उक्त अभ्यासीको नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्नि वृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढ़ापे तथा मृत्युको दूर करते हैं जठराग्निको वढ़ाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढ़ाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं, शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २, प्रहर २ में थोड़ा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

विपरीतकरणमुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पड़ने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने कुछ उदाहरण लिखकर गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड़ दिया, इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे लिखता हूं कि, दोनों पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनों हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाकर, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खड़ा करे, अभ्यास होनेपर कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फिर वैसेही पद्मासन लगाये । हाथ और शिरके सहारे उलटा खड़ा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है ।। १ ।।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।। २ ।।

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढ़ती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ।। २ ।।

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।। ३ ।।

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ।। ३ ।।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। ४ ।।

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढ़ाकर अभ्यास करे तो सिद्धि होनेपर वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं । जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ।। ४ ।।

वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।। १ ।।

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम न जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोली को जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ।। १ ।।

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।। २ ।।

इस मुद्रामें हरकिसीको जो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः वे अवश्य चाहियें वज्रोल्यर्थं संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ।। २ ।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ।। ३ ।।

संगम करके मन्द मन्द क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैंचनेके अभ्यास सिद्ध होनेमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ।। ३ ।।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ।। ४ ।।

इसकी पूर्वांग क्रिया कहते हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन दो-दो अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे, अभ्यास सिद्ध होनेपर वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है ।

जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्ध होती है ।। ४ ।।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।। ५ ।।

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होते ही उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच ले अथवा जब भगमें गिर पड़े तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढ़ाकर स्थापन करे ।। ५ ।।

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।। ६ ।।

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है वह योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व प्राप्त होता है इसलिये इस विधिसे बिंदुकी रक्षा करें ।। ६ ।।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।। ७ ।।

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबतक देहमें बिंदु स्थित है तबतक कालभय नहीं होता ।।७।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।। ८ ।।

वीर्य चित्तके आधीन है, चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है, एवं शुक्रके आधीन जीवन है इसकी स्थिरतासे जीवन स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी चाहिये ।।८।।

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ।। ९ ।।

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खींचकर स्थापित करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ।।९।।

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोली भी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं–

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ।। १ ।।

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीके भी हैं इसलिये ये भी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलाये ।।१।।

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ।। २ ।।

वज्रोली के लिए मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठकर सभी व्यापार छोड़कर उक्त भस्म जलमें मिलाकर स्त्रीपुरुष अपने अपने सर्वांग में लेपन करें ।।२।।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।। ३ ।।

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र (साधनाओंमें) जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं, इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ।। ३ ।।

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्धयेत नतु मत्सरशालिनाम् ।। ४ ।।

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी हैं उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) हैं उनको सिद्ध नहीं होता ।। ४ ।।

अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं'—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां,
विहाय निःसारयतान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमन्यधारां ।
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ।।१।।

शिवांबुक प्रथमधारा पित्तकी उष्णता से तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं.यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ।। १ ।।

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।। २ ।।

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोली का अभ्यास करते हैं । वही कापालिकी अमरोली कही है ।। २ ।।

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।। ३ ।।

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिला कर उत्तम अंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादि में धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ।। ३ ।।

स्त्रीणां वज्रोली

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ।। १ ।।

अब स्त्रियोंके लिए वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यास से पुरुषके बिंदुको खींचकर अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा द्वारा रक्षा करे वह भी योगिनी कहलाती है ।। १ ।।

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ।। २ ।।

उसके रजका नाश(पतन) निस्संदेह अल्प भी नहीं होता तथा शरीरमें नाद भी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग हो तो योगसिद्धि होती है, परमपद मिलता है, इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ।। २ ।।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ।। ३ ।।

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ।। ३ ।।

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं मा रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवम् ।। ४ ।।

जो स्त्री भगको आकुंचन करते-करते रजको ऊपर शरीरमें चढ़ा ले वह योगिनी होती है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान जाने और अंतरिक्षमें चलनेवाली वैमानिकगति मिलती है ।। ४ ।।

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ।। ५ ।।

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्र संहननभाव मिलते हैं, यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमें भी मुक्ति देता है ।। ५ ।।

'इनमें दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।। १ ।।

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कहा है इनमें एक-एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवाली हैं ।। १ ।।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।। २ ।।

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश दे वही सर्व गुरुसे श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ।। २ ।।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ।। ३ ।।

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ।। ३ ।।

प्रणवाभ्यासाः

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ।। ८३ ।।

अब प्रणव के अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ़ पद्मासन लगाकर शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे ।। ८३ ।।

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८४ ।।

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः भुवः स्वः ये लोक तथा चन्द्रमा सूर्य अग्नि देवता रहते हैं, वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ।। ८४ ।।

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८५ ।।

जिस प्रणवमें भूत, वर्त्तमान, भविष्य ३ काल; ऋक्, यजु:, साम तीनों वेद; स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोक:; उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ३ स्वर; ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ।। ८५ ।।

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधाः शक्ति स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८६ ।।

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा, ज्ञान, शक्ति भेदों द्वारा ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्तियां रहती हैं वह प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्म ज्योति है ।। ८६ ।।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८७ ।।

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनों मात्रा रहती हैं जिसमें वह ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ।। ८७ ।।

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८८ ।।

इस प्रणवके सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरके सिद्धासनादिसे सगुण ब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझ कर सर्वदा स्मरण करना ।। ८८ ।।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ८९ ।।

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त या बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे-तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरिक पाप स्पर्श नहीं करते । जैसे कमलदल जलमें रहता है परन्तु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं करता ऐसे ही उक्त दिधिका प्रणवाभ्यासी भी निर्लेप रहता है ।। ८९ ।।

प्राणायामप्रकारः

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुंधयेत् ।। ९० ।।

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहनेमें बिंदु भी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है, जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्यास से समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है । इसलिये योगीका वायुनिरोध करना मुख्य कार्य है ।। ९० ।।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ।। ९१ ।।

जब तक शरीरमें वायु स्थिर रहता है तब तक जीव शरीरको नहीं छोड़ता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं, जीवन-मरण प्राणवायुके आधीन है, इसलिये प्राण-वायुका रोधन अवश्य करना चाहिये ।। ९१।।

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।। ९२ ।।

जबतक प्राणवायु कुंभकसे देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासना त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है, तब तक कालका भय नहीं होता है ।। ९२ ।

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ।। ९३ ।।

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके आधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादि सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके साधनमें तत्पर

हैं अन्य योगियोंको भी इस अभ्याससे कालका भय नहीं होता इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥ ९३ ॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ९४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु 'बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः' उक्तवायु प्राण कहलाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं ॥ ९४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥९५॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शुद्ध निर्मल होता है तब योगाभ्यासोपयोगी प्राणवायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है, अन्यथा नहीं ॥ ९५ ॥

नाडीशोधनप्राणायामविधिः

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं—कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनपर बैठकर पद्मासन लगाये तब चन्द्रनाडी (इडा) से १२ संख्याप्रणव जप करते मन्द मन्द पूरक तथा १६ संख्यासे दोनों ओर थामकर कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यासे सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द-मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥ ९६ ॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत् ॥ ९७ ॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध समान अतिशुक्लवर्ण अमृत स्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।। ९८ ।।

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणव जपसहित पूरकके १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मन्द-मन्द रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ।।९८।।

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत् ।। ९९ ।।

सूर्यांग प्राणायाममें कुंभकविषये जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यान करके जो योगी प्राणायाम करता है वह आनंद पाता है ।। ९९ ।।

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ।।१००।।

उक्त ४ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासापुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुआ, पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपसे पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुआ, पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचक करके तीसरा प्राणायाम हुआ,इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब प्राणवायु स्वरूपका और सूर्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्यबिंब अपानवायु स्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत सिद्ध (निर्मल) होते हैं । यह नाडीशोधनकी उत्तम विधि है जो संयमसे

रहकर धौति १ नेति २ नौली ३ बस्ती ४ त्राटक ५ भस्त्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तो भी इन्हीं प्राणायामोंके अभ्याससे उनका उक्त कृत्य संपादित हो जाता है। जैसा कहा भी है कि "प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति। आचार्य्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम्॥" अर्थात् प्राणायामहीसे नाड़ीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहीं हैं॥ १००॥

ग्रन्थान्तरे

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ १॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायंसंध्याकाल और अर्द्धरात्रिमें २ मुहूर्त निशीथ काल होता है, इन चारोंमें प्रत्येकमें ८०-८० प्राणायाम करना, अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तो तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना। चारों समयके ३३० और ३ समयके २४० प्राणायाम होते हैं॥ १॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्॥ २॥

जिसमें प्रस्वेद आये वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहलाता है। इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे वह कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणयाम काल कहते हैं, जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होता है वहां २५ विपला स्थिर रहे, प्रत्याहार २५ पलपर्यंत रहे तो धारण तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है॥ २॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्द्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ।। ३ ।।

प्राणायामश्रमसे जो पसीना आये उसे सर्वांगमें खूब मले इससे गात्र लघु और दृढ़ होते हैं अर्थात् जड़ताका अभाव होता है ।। ३ ।।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासो दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।। ४ ।।

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभकाभ्यास दृढ़ हो जाय तब उक्त नियमका कुछ आग्रह नहीं ।। ४ ।।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ।। ५ ।।

जब नाडी शुद्ध हो जाती है तो बाहरी चिह्न,देहकी कृशता कांति-वर्द्धन आदि निश्चय देखनेमें आते हैं। बहुतकाल तक कुंभक धारण करनेसे जठराग्नि प्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ।। ५ ।।

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ।। १०१ ।।

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथम शतकम् ।। १ ।।

नाड़ीशोधन होनेपर अपने समझने योग्य मंत्र, जप, कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदाराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ।। १०१ ।।

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां संग्रहायां
योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ।। १ ।।

द्वितीयं शतकम्



प्रथम शतकके १०० वें श्लोककी टीकामें लिखा गया है कि धौति आदि षट् कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है,इन्हें न करें परंतु किन्हीं २ आचार्योंका यहभी मत है कि—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वषट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ।।

जिसका मेद और श्लेष्मा अधिक हो उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसे भी अभ्यास दृढ़ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्-कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना उचित है इसलिये षट्-कर्मविधि कहते हैं ।

धौतिः

चतुरङगुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।। १ ।।

चार अंगुल चौड़ी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोड़े गरमजलमें भिगोकर मुखसे पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ एवं क्रमसे १५ दिमें पूरी गुरू-पदेशानुसार निगल जाये ।। १ ।।

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ।। २ ।।

उक्त वस्त्रका पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे लगा कर नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडि) में पहुँचकर

साफ करता है तब थोड़ा २ बाहर निकाले, यह धौतिकर्म है। कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठादि, विषरोग, बीस प्रकारके कफ रोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निस्संदेह नाश हो जाते हैं ॥ २ ॥

बस्तिः

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं—नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेशकर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढ़ाय नौलीकर्म करके बाहर छोड़ दे। यह बस्तिकर्म है। धौति बस्ति विना भोजन किये नहीं करना चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीहा, जलोदर, वात, पित्त, कफसे उत्पन्न सर्वरोग नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्याससे शरीरके सप्त धातु रस १, रुधिर २, मांस ३, मेद ४, अस्थि ५, मज्जा ६, शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं, प्रसन्नता, कांति बढ़ती है, जठराग्नि दीप्त होती है, वातादि समस्त दोषोंको दूर कर निरोगिता प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ।। १ ।।

अब नेतिकर्म कहते हैं—कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथि-रहित सूत्र का एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंद कर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढ़े तब मुखश्वास छोड़कर सूत्र बाहर निकाले । एक किनारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनोंको हाथोंसे पकड़ शनै-शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ।। १ ।।

कपोलशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ।। २ ।।

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादिकोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती है और जत्रु (कण्ठमूल) स्थानसे ऊपर समस्त रोगसमूहको शीघ्र शांत करती है ।। २ ।।

त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्य्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।। १ ।।

अब त्राटक कहते हैं एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबतक नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे । नेत्रोंमें जल आनेपर छोड़ देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं । मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखें तो और भी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ।। १ ।।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।। २ ।।

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढ़ानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसे ही इस कर्मको भी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

नौलिः

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं–दोनों कंधा नीचे नवाय उदरको दक्षिणवामभाग करके जलके भ्रमर (भौंरे) के समान घुमाये इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं, अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुएमें नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरानल को घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणीच हठक्रियामौलिरियंहिनौलिः ॥२॥

यह क्रिया मंदाग्निको नष्टकर भोजन किये अन्नादिकोंकी शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनंदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौति बस्ति इन दो क्रियाओंमें नौलि करनी होती है इसलिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहते हैं–लुहारकी धौंकनी (खाल) की भांति शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे बीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।। २ ।।

उक्त षट्कर्मों द्वारा जब स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रम ही योगसिद्धि होती है ।।२।।

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरिणीति निगद्यते हठज्ञैः ।।३।।

जब गजकरणीमुद्रा कहते हैं कि अपानवायुको कंठनालमें चढ़ाकर उदरगत भुक्तपीत अन्न जलादिको निकाले, इस अभ्यास से भी नाडिचक्र अपने आधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरर्णा कहते हैं ।।३।।

उत्तरार्द्धग्रन्थः

पूर्वोक्त विधि से नाड़ी शुद्ध होनेपर यम, नियम, आसनादि की साधना करके, षट्चक्र षोडशाधार का कर्म समझकर तथा नाड़ियों के वायुज्ञान हो जानेपर चन्द्रतारानुकूल शुभ मुहूर्त्त पर गणेश एवं गोरक्षनाथ का स्वस्त्ययनपूर्वक पूजन करे, तदनन्तर योगाभ्यासोपदेशक गुरु को संतुष्ट कर उनकी आज्ञानुसार योगाभ्यास प्रारंभ करे । अब प्रथम प्राणायाम विधि कहता हूँ :—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम् ।। १ ।।

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाकर रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्नाद्वारको खोलकर सुषुम्नानाडीके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है वह प्राणायाम सुगम होता है ।। १ ।।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ।। २ ।।

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका होता है, बाहरके वायुको अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक, वायुको भीतर ही रोकना कुंभक,रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है। प्रणवको स्मरण करनेवाला प्राणायाम है, ब्राह्मणको प्रणवका, क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है, पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपकर चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका प्रणव ध्यानसहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० जपसे रेचक करने पर एक प्राणायाम होता है ।। २ ।।

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।। ३ ।।

प्राणायामके अभ्यास करते २ यदि संयम पूरा न हो तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि, चंद्रांग सूर्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणव मात्रा द्वारा पूरक चंद्रमंडल–सूर्यमंडलध्यानयुक्त १६ मात्रा करके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं, ऐसा योगियोंको जानना चाहिए ।। ३ ।।

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ।। ४ ।।
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ।। ५ ।।

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १० मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामविधि कनिष्ठ है, इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४, कुं० ३२, रे० २०, यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ।। ४ ।। ५ ।।

अधमे चोद्यते धर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ।। ६ ।।

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होता है, मध्यममें कंप होता है, उत्तममें योनिका आधार उठता है, इसलिये प्राणायामका अभ्यास अवश्य करना चाहिये ।। ६ ।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ।। ७ ।।
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ८ ।।

प्राणायामकी विधि कहते हैं–एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनपर पद्मासन में बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे । अमृत स्रवित हो रहा है ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यमें करके दोनों दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन कर तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका, क्षत्रिय वैश्य ओम् इस एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राकी विधि से पूरक, कुंभक, रेचक चंद्रांग और सूर्यांग प्राणायाम, निरंतर करता रहे । मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचकर प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्ति चालनमुद्रासे उठाई गई कुंडलिनीको सुषुम्नामार्गसे ऊपरको चढ़ाये । ऐसा करनेसे योगी समस्त पापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ।। ७ ।। ८ ।।

द्वाराणां नवकं निरुद्धय मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ।। ९ ।।

केवल कुंभकप्राणायाम विधि कहते हैं–षण्मुखीकरके पूरक-वायुसे उदर पूर्ण करके ऊपर के ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको

रोककर मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनसे प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपर उठाकर आज्ञाचक्रसे ऊपर उक्त-वायुसे पूर्णकरके स्थिर करे । सहस्रकमलमें परमात्माके ध्यानसे ज्योति प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है यही काल योगीका मोक्षसम है । आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ।। ९ ।।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ।। १० ।।

इस प्रकार नित्य निरंतर अभ्याससे प्राणायाम पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि समान होता है, संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला योगिजनों द्वारा यही प्राणायाम महासेतु कहा जाता है ।। १० ।।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ।। ११ ।।

आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नष्ट होते हैं और प्राणायामसे समस्त पातक तथा प्रत्याहारसे मानसिक विकार नष्ट होते हैं ।। ११ ।।

धारणाभिमतो धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ।। १२ ।।

धारणासे मनमें धैर्य बढ़नेसे उत्तम ज्ञान मिलता है, ध्यानसे अद्‌भुत चैतन्य शारीरिक ज्ञान मिलता है, समधि द्वारा शुभाशुभ कार्यों का परित्याग होने से मोक्ष मिलता है ।। १२ ।।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ।। १३ ।।

धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।। १४ ।।

बारह प्राणायाम से प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार, (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणाका फल देनेवाली धारणा, (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान, (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ।। १३ ।। १४ ।।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते ।। १५ ।।

समाधिका स्वरूप कहते हैं—मूलाधारचक्र चतुर्दलकमलकर्णिका में सुषुम्नाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान बिंब है बिंदुस्वरूप कुंडलिनीका है, यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है, इसके दर्शन समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते, कर्ममें लिप्त नहीं होता और कैवल्यका अनुभव हो जाता है ।। १५ ।।

संबद्धासनमेढ्रमंघ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटा-
द्द्वाराण्यगुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः ।। १६ ।।

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं—प्रथम सिद्धासन लगाकर दोनों हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनों कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका, कनिष्ठा से मुख बन्द कर अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढ़ाकर सहस्र-

दल कमलमें धारण करना, इस प्रकार समाधिका अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्य हो जाता है ।। १६ ।।

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ।। १७ ।।

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्र दल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा (नगारे आदि वाद्योंकी) ध्वनि प्रकट होती है, इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप जानना चाहिये ।। १७ ।।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
आयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ।। १८ ।।

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होते हैं और अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ।। १८ ।।

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ।। १९ ।।

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथा आदि रोग उत्पन्न होते हैं ।। १९ ।।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ।। २० ।।

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु धीरे-धीरे पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडा भी विरोध होनेमें पालक को ही मार डालते हैं ऐसे पवनभी युक्त अभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्त अभ्याससे रोगादिकों द्वारा अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ।। २० ।।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः ।। २१ ।।

वायु शनैः शनैः रेचन करे जिससे नासाछिद्रके सामने रक्खा हुआ रुईका फोहा न उड़े ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करे, युक्त युक्त पूरक करने से चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न हो। इससे सिद्धि शीघ्र मिलती है ।। २१ ।।

गन्थान्तरे प्राणायामभेदाः

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ।। १ ।।

ग्रंथांतरसे प्राणायामके भेद कहते हैं कि, प्राण (शरीरांतर्गत वायु) के रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक, कुंभक तीन भेद हैं। भीतरसे वायु बाहर छोड़ना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहलाता है, कुंभकके भी केवल एवं सहित दो भेद हैं,योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है–एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक, पहिला रेचक प्राणायामसे दूसरा पूरक प्राणायामसे भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायाम प्रकरणसे जाने ।। १ ।।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।। २ ।।

जब तक केवल कुंभककी सिद्धि हो तब तक सहितकुंभक सूर्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्नाके भेदके पीछे उसके भीतर घटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है। तदनंतर १०-१० बढ़ाकर ९० पर्यंत करे, सामर्थ्य हो तो अधिक करे, रेचक तथा पूरक को भी छोड़कर वायुधारण करे, उसे केवल कुंभक कहते हैं ।। २ ।।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।। ३ ।।

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभक ही है, अन्य नाडी-शोधनार्थ हैं, रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेपर ।। ३ ।।

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्। । ४ ।।

योगीको तीनों लोकमें कुछभी दुर्लभ नहीं है, केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य) वायु धारण करे ।। ४ ।।

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुंडलीबोधः कुडलीबोधतो भवेत् ।। ५ ।।

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है, कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) का बोध होता है ।। ५ ।।

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगे राजयोगं विना हठः ।
न सिद्धयति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ।। ६ ।।

और सुषुम्नाके कफादि मल दूर होते हैं तव हठसिद्धि (मोक्ष) होता है हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग बिना हठयोगसिद्धि नहीं होती इसलिये दोनोंका अभ्यास करना चाहिये ।। ६ ।।

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ।। ७ ।।

कुंभकसे प्राण संरोधकरके अंतमें चित्तको आश्रयरहित कर इस प्रकारके अभ्यास योग द्वारा राजयोगपदको प्राप्त करना चाहिये।।७।।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
आरोग्यता बिन्दुजयोग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ।। ८ ।।

हठ योगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रगटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदर में जठराग्निकी वृद्धि, नाड़ियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं ।। ८ ।।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। २२ ।।

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं, आसन, प्राणायाम, सिद्धि द्वारा जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभव करके फिर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहलाता है ।। २२ ।।

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ।। २३ ।।

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) हरण करता है अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको अलग करता है ।। २३ ।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गान् कूर्मः संकोचयेद् ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ।। २४ ।।

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकुचित कर अपनेही भीतर छिपा देता है । अंग तो उसीमें रहते हैं परन्तु न होने के तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगी भी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको रोक लेता है अर्थात् इंद्रियोंको उनके विषयों में आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करता है ।। २४ ।।

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ।। २५ ।।

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २८ ॥
लावण्यमलावण्यं वा यं यं रसति जिह्वया।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९ ॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे ही मनभी कर्णद्वारा प्रविष्ट शब्दमें आसक्त होता है, उक्त शब्दोंको ही आत्मा समझ कर मनको उक्त शब्द विषयसे प्रत्याहरण कर अर्थात् शब्दको विषय मानकर जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रम मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटाये जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्थाणुवृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्या भूतादि की भ्रांति होती है, वैसेही अखंडानंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांति द्वारा कल्पना करती है, वस्तुत: आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है, इसलिए सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है, इसी प्रकार शब्दादि उक्त विषयोंको भी आत्मा ही है, भावनापूर्वक ऐसा निश्चय करके बाहर–भीतर अद्वैतानंद-स्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है यह धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंके चलायमान होनेपर भी उन्हें आत्मा माने विषय न माने। नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही निश्चय करके नासिकाकी वृत्ति गंधद्वारा मनको भ्रममें डालती है उसे हटाये, नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता वे भी आत्माही हैं, निश्चय कर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडकर नेत्रेंद्रियवृत्ति को

उक्त विषयसे हटाये, त्वगिंद्रियसे मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस २ पदार्थको स्पर्श करता है उसे भी आत्मा ही है यह भावना निश्चयकर त्वगिंद्रियवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटाये, जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, कटुक, आदि जिन २ रसोंको चखता है उन्हें भी आत्मा ही समझकर जिह्वाकी वृत्तिको हटाये। इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास से पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाकर आत्मतत्त्वमें स्थिर करे । जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने हुए शब्द मधुरशब्दके तुल्य मानता है, कोई भी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जा सकता । ऐसेही नेत्रोंसे देवता वा पिशाच, मनुष्य, कुत्ता, ब्राह्मण वा चाण्डाल, गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है। नासिकासे कस्तूरी आदि की सुगंधि-से वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है, त्वचासे अग्नि वा जल षोडशी स्त्रीके कुच या कृपाण की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदिकों को तुल्य स्वाद वाला मानता है ।। २५ ।। २६ ।। २७ ।। २८ ।। २९ ।।

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ।। ३० ।।

प्रत्याहारकी विधि कहनेके उपरांत केवल हठयोगहीसे प्रत्याहार की विधि कहते हैं कि षोडशदल कमलकर्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य ग्रासकर लेता है तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा द्वारा सूर्यसे हटाकर अपने मुखमें ले जाय इसे प्रत्याहार कहते हैं ।। ३० ।।

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ।। ३१ ।।

एक स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकली अमृतधाराका बोधन है, (द्वाभ्यां) पदसे सूर्य्यचन्द्रमाका बोध है, तृतीयपदसे आप (योगी) है, उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्य्यंसे भोग करता है । इसको योगी स्वयं विपरीतकरणीमुद्रा द्वारा उक्त चंद्रसूर्य्यंसे बचाकर भोग करे तो अजरामर होता है ।। ३१ ।।

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मनः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ।। ३२ ।।

अग्निमय एक सूर्य्य नाभिमें निवास करता है और अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ।। ३२ ।।

वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते ।। ३३ ।।

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है, उस धाराके नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य्य पी लेता है, योगी द्वारा सूर्य्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है उसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं ।। ३३ ।।

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधःशशी ।।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।। ३४ ।।

जो नाभिगत सूर्य्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे, उस विपरीतकरणीको गुरुमुखहीसे जाना जा सकता है ।। ३४ ।।

लिखनेसे नहीं किन्तु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रा साधनके उपरांत ही सुगम हो जाती है ।।

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ।। ३५ ।।

तीन फेरा रस्सियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीनहोकर शब्द करता है ऐसे ही अनाहतचक्रमें सत्त्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाबद्ध जीव,

परा-पश्यंति-मध्यमा द्वारा प्रतिबिंबित, जीव परा-पश्यंति-मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नादसहित होकर निरंतर शब्द करता है इस अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ।। ३५ ।।

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ।। ३६ ।।

खेचरी मुद्रा से अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापान-वायुको एक करके मणिपूरक अनाहतचक्रको उल्लंघन करके महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त कर योगीका शरीर अमरत्व प्राप्त करता है ।। ३६ ।।

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्रायादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनांनिधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।। ३७ ।।

उक्त प्रकारके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्ण कर योगी शिरमें स्थित सहस्रदलकमलसे विशुद्धचक्रमें गिरते समय प्राणवायुको ऊपर चढ़ाकर नासिका के ऊर्ध्व विवरमें ले जाये ।ऊर्ध्वविवरमें जिह्वा प्रवेश करके, मुखभी ऊपरको करके सहस्रदल कमलमें प्राणवायु सहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता है, कुंडलिनीका सहस्रदल में प्रवेश होते ही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे तो वह योगी अतिसुकुमार शरीर पाकर समस्त रोग दुःखोंसे रहित होकर बहुत कालपर्यंत जीवित रहता है ।। ३७ ।।

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ।। ३८ ।।

अपानवायुको उठाकर प्राणवायुके साथ ऐक्य करनेसे काक (कौवे) कासा चोंच मुखकर शीतल सलिल (बाह्य वायु) को जो

योगी पूरक (पान) करता है वह वृद्धावस्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ।। ३८ ।।

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ।। ३९ ।।

जिह्वा द्वारा तालुमूलसे जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है वह छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है ।। ३९ ।।

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ।। ४० ।।

पांचवें विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ जब सूर्यके मुखको वंचन कर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पड़ता है तब जिह्वा द्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ।। ४० ।।

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ।। ४१ ।।

'वि' शब्द हंसका और 'शुद्ध' शब्द निर्मलका बोधक है । कण्ठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामक चक्र है, यह सर्वोत्कृष्ट है । चक्रोंके तत्त्व को जाननेवाले योगी जानते हैं ।। ४१ ।।

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ।। ४२ ।।

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपानवायुसहित प्राणवायुको ऊपर ले जाकर लंबिका ऊर्ध्व विवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर क्रमसे नासिका के ऊपर विवरमें पहुँचानेसे नाभि सूर्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करने से उक्तामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ।। ४२ ।।

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।

ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादःपिबे–
देवं यःकुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ।।४३।।

कंठके ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोककर नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोककर (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरक करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंको भी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्तामृतपान जो योगी निरंतर इस विधिसे करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होता ।। ४३ ।।

ऊर्ध्वजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ।। ४४ ।।

ऊर्ध्व जिह्वाको स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एक ही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं ।। ४४ ।।

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ।। ४५ ।।

जिस योगीने (मूलबंध) मूलद्वार रोका उसने जरामणादि विघ्नका नाश कर लिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आत्मभावको छोड़कर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्त्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादि रहित विराजमान है ऐसे ही उक्त अभ्यासी भी होता है ।। ४५ ।।

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ।। ४६ ।।

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके विल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है वह अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कविता सामर्थ्य कवि हो जाता है ।। ४६ ।।

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि स पन्थाः पञ्च धारणाः ।। ४७ ।।

जिह्वाग्रसे पीडनकर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाड़ियोंके मुख रुक जाते हैं । ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा अन्यत्र नहीं गिर सकती, पंचधारणाके अभ्यासी योगीको जैसा चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है वैसा ही अमृतको लंबिका के ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ।। ४७ ।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितंसिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। ४८ ।।

लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीकी जिह्वामें कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी शहद, कासा, कभी घीकासा स्वाद अनुभव होता है, ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध होने पर होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य बिना पढ़े भी होता है अमृतमय शरीर और अष्ट सिद्धि मिलती है । स्मरणमात्रसे सिद्ध गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकंषण करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ।। ४८ ।।

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ।। ४९ ।।

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं—उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब योगीका देह हो जाता है तो दो-तीन वर्षके अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ़ जाता है, ऊर्ध्वरेता होनेपर कदाचित् भी वीर्य्य स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं ।। ४९ ।।

ईन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देहं देही न मुञ्चति ।। ५० ।।

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये बिना नहीं छोड़ता वैसेही जीवात्मा भी चंद्रकलामृतसे पूर्ण होने पर योगीके शरीरको कदापि नहीं छोड़ता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनाग भी डसे (काटे) तो उसके शरीरमें विष नहीं फैलता ॥ ५१ ।

इति प्रत्याहारप्रकरणम्

'अब ९ श्लोकोंमें धारणाका विस्तार कहते हैं

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणा च समभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

आसनका साधन, प्राणायामका साधन और प्रत्याहारका अभ्यास करके इंद्रियवृत्तियोंको रोकनेका सामर्थ्य होनेपर धारणाका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५२ ॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥ ५३ ॥

हृदयमें मन एवं प्राणवायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पंच भूतोंको पृथक् पृथक् संधार करना धारणा कहलाती है ॥ ५३ ॥

यापृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणाहृदि स्थायिनी ।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितान्धारये-
देषास्तंभकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ॥ ५४ ॥

पहिले पृथ्वीधारणा कहते हैं—जो पृथ्वी हरिताल अथवा सुवर्ण समान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणाकार मध्य में (लं) बीजयुक्त है, इस (लं) पृथ्वीतत्त्वको हृदयमें ध्यान करके भावना करना उक्त भूमंडलमें आप भी लीन हो चित्तसहित

प्राणको लीन करके पांच घटीपर्यंत स्तम्भन करनेवाली धारणा होती है इस धारणाके सर्वदा अभ्यास से पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्ती होता है ॥ ५४ ॥

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥ ५५ ॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं–अर्धचन्द्राकार कुंदपुष्प समान श्वेतवर्ण अमृतरूप (वं) बीजमध्यसहित अधिष्ठातृदेवता विष्णुसहित जलतत्त्वको विशुद्धचक्रमें ध्यान करना और उक्त जलतत्वमें आप भी लीन हो चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घड़ी पर्यंत धारणा करना यह जलस्तम्भन करनेवाली वारुणीधारणा है इसके सर्वदा अभ्यास से कालकूट विषभी भस्म हो जाता है, और शरीरमें असर नहीं करता ॥ ५५ ॥

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥ ५६ ॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं–इंद्रगोप (बीरबहूटी कीड़े) के सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान रमणीय तेजोरूप (रं) बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृदेवता रुद्रसहित आग्नेयतत्त्वको तालुस्थान में भावना कर उक्त अग्नितत्वमें स्वयं भी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन करके पांच घटीपर्यन्त तन्मय होना ही वैश्वानरी धारणा है, इसके सर्वदा अभ्याससे योगी अग्निको जीतनेवाला होता है और अग्नि उसको नहीं जलाती ॥ ५६ ॥

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।

प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनःस्याद्वायवी धारणा ।। ५७।।

वायवी धारणा कहते हैं—वर्तुलाकार कज्जलके पुंजसमान अतिनीलवर्ण (यं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता ईश्वरसहित वायुतत्वको भ्रूमध्यमें ध्यानकर उक्त वायुतत्वमें आप भी लीन हो या चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह वायुतत्वकी धारणा है इस धारणाके नित्य अभ्यास करनेसे आकाशमें गति होती है ।। ५७ ।।

आकाशं शुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्वं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।। ५८ ।।

नभोधारणा कहते हैं—वर्तुलाकार निर्मल जलसमान वर्ण (हं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता सदाशिवसहित आकाशतत्वको ब्रह्मरंध्रमें ध्यान करना इस तत्वमें आप भी लीन हो चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घटी तक स्थिर रखना, यह नभोधारणा मोक्षरूपी द्वारके खोलनेमें चतुर है, इसके नित्य अभ्यास करनेसे मोक्षद्वार खुल जाता है ।। ५८ ।।

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दाहनी भ्रामिणी तथा ।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पंच धारणाः ।। ५९ ।।

पृथ्वीधारणाके अभ्यास दृढ़ होनेपर जलपवनादि स्तंभनसामर्थ्य होती है, वारुणीधारणाके अभ्यास दृढ़ होनेपर समस्त द्रव्यपात्रको द्रव (जल) समान करनेकी सामर्थ्य होती है, एवं आग्नेयीसे विना अग्निही वस्तुमात्रको जलानेकी सामर्थ्य होती है, वायुधारणासे वस्तु मात्र किंवा समस्त जगत्को घुमानेकी सामर्थ्य होती है, नभोधारणा से सर्वशोषण सामर्थ्य होती है, इन पांच धारणाओंकी साधारण क्रियायें हैं ।। ५९ ।।

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्चदुर्लभाः ।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ।। ६० ।।

कर्म (अनुष्ठान) से मनके चिंतनसे, वचन शास्त्रज्ञके प्रमाण माननेसे, निरूपण द्वारा पांचों धारणाओंका स्थिराभ्यास करनेसे समस्त दुःखोंसे मुक्ति मिलती है ।। ६० ।।

इति धारणाः

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ।। ६१ ।।

'स्मृ' यह धातु चितासामान्यवाचक है । चित्तमें योगशास्त्रोक्तविधि से निर्मलांतर करके आत्मतत्वका स्मरण करना ध्यान कहलाता है ।। ६१ ।।

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ।
चर्याभेदेन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत् ।। ६२ ।।

यह ध्यान सगुण, निर्गुण भेदसे दो प्रकारका है, श्यामवर्ण चतुर्बाहु वनमालामुकुटकुंडलपीतांबरधारी विष्णुका ध्यान करना सगुण ध्यान है ।। ६२ ।।

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात् ।।६३ ।।

एकांत पवित्र स्थानमें बैठकर पद्मासन या स्वस्तिकासन लगाकर शरीर सरल बनाकर आधारादि चक्रोंमें अंतःकरण (मन) लगाकर नासाग्रमें दृष्टि देकर कुंडलिनीसहित ध्येयवस्तुका ध्यान करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त होता है, यह ध्यानमुद्रा है ।। ६३ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषैः ।। ६४ ।।

योगियोंके ध्यान करनेयोग्य वनस्थान है, इनमें प्रथम, मूलाधारचक्र सुवर्णवर्ण चतुर्दश कमल है। इसको कर्णिकामें स्वयंभूलिंगके शिरमें बिंबाकार साढ़े तीन वृतवेष्टित हो रही कुंडलिनीसहित इस चक्रके ध्यान करनेसे योगी समस्त पापोंसे निर्मुक्त होता है ।। ६४ ।।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ।। ६५ ।।

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्र, रक्तवर्ण षट्दलकमलकर्णिकामें सगुण या निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माको नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करनेसे योगी आनंदावस्थाको प्राप्त होता है ।। ६५ ।।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ।। ६६ ।।

तृतीय मणिपूरचक्र, उदय होते सूर्यमंडलसमान रक्तवर्ण कमलकर्णिकामें सगुण वा गिर्गुण ज्योतिरूप आत्माको नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करनेसे योगी समस्त जगत्क्षोभ करनेकी सामर्थ्य पाता है ।। ६६ ।।

हृदाकाशे स्थितं शम्भु प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ६७ ।।

चतुर्थ, हृदयरूप आकाश अनाहतचक्रकर्णिकामें रहते प्रचंड तेजवान् सूर्यसमान तेजस्वी वाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करनेसे योगी ब्रह्ममय होता है ।। ६७ ।।

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ६८ ।।

ऐसेही विद्युत् समान प्रभायुक्त हृदयकमल कर्णिकामें उक्त प्रकारसे नासाग्रदृष्टि देकर सगुण या निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है ।। ६८ ।।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।। ६९ ।।

कंठस्थानमें दीपज्योतिसमान कांतिमान् विशुद्ध चक्रमें नासाग्रदृष्टिकरके सगुण, निर्गुण या ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी अमर होता है ।। ६९ ।।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।। ७० ।।

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रमें माणिकशिखा (चूनीकी सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्माको नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे योगी समस्त दुःखरहित आनंदमय होता है ।। ७० ।।

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ।। ७१ ।।

आज्ञाचक्रमें नीलवर्ण शिवपरमात्माका ध्यान करता हुआ प्राणायाम करनेसे योगी जीवात्मा परमात्माके ऐक्यको पाता है ।। ७१ ।।

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्वात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ७२ ।।

आज्ञाचक्रमें निर्गुणरूप, शांत विश्वव्यापक, शिवके नासाग्र में दृष्टि देकर ध्यान करनेसे जीवभावको देनेवाले गुणधर्मसे रहित होकर ब्रह्ममय हो जाता है ।। ७२ ।।

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।। ७३।।

जिस तत्त्वमें नाद प्रकट होता है ऐसा आकाशतत्त्वस्थान मनका स्थान है वही भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र कहलाता है इसमें रहनेवाले सदा शिवरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी कैवल्य मुक्ति पाता है ।। ७३ ।।

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगीमुक्तिमवाप्नुयात् ।। ७४ ।।

आज्ञाचक्र के ऊपर शून्यस्थान में करने योग्य ध्यान कहते हैं– स्वरूपको आच्छादित करनेवाला, मलिनसंबंधसे रहित, आकाश समान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूपके ध्यान करने से योगी मुक्तिको प्राप्त होता है ।। ७४ ।।

गुदं मेढ्ं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थान भ्रूमध्ये च नभोबिलम् ।। ७५ ।।

ध्यानयुक्त नव स्थानोंको पुनः कहते हैं कि, गुदा (मूलाधार) १, मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २, नाभि (मणिपूर) ३, हृत्पद्म (अनाहत) ४, तदूर्ध्वं (विशुद्ध) ५, घंटिकाका मूल ६, लंबिकाका स्थान ७, आज्ञाचक्र ८, इसके ऊपरका शून्यस्थान ९, ये नव ध्यान योग्य स्थान हैं ।। ७५ ।।

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
उपाधितत्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ।। ७६ ।।

योगियों द्वारा उक्त नव स्थान ध्यानोपयोगी कहे गय हैं इन्हें उपाधि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच तत्त्वों से सम्मिलित ध्यान करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका उदय होता है ।। ७६ ।।

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ।। ७७ ।।

उक्त नव स्थानोंमें सर्वोत्कृष्ट शिव अनाहत आज्ञाचक्रोंमें उक्त प्रकारसे साकार सगुणस्वरूपको अथवा निराकर निर्गुणब्रह्मको भावना द्वारा उक्त स्थानोंमें ध्यान करनेसे योगी संसारसे मुक्त होकर पुनर्जन्ममरणरूप संतापसे छूट जाता है, यह श्रीगोरक्षनाथ प्रतिज्ञा करके कहते हैं इसमें संशय नहीं है ।। ७७ ।।

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयंसंप्रयत्नादा-
कुञ्च्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः ।। ७८ ।।

चित्त (अंतःकरण) को मणिपूरचक्रमें स्थिर करके अपान द्वारको बड़े प्रयत्नसे संकोच-विकाश कर अपानवायुको अधोगतिको रोककर ऊपर ले जाकर मन एवं प्राणवायुसे ऐक्य करे, सूत्रके समान सूक्ष्म अग्निसमान देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूपको उक्त ऐक्यमें चिंतन करनेसे उक्त ज्योति नाभिचक्रको वेधन कर हृदयकमलमें पहुँचता है, पुनः अभ्यास सिद्धि होने पर हृदयकमलको वेधकर ब्रह्मरंध्रमें

पहुँचता है, इसी विधिसे योगियोंके शरीरत्याग समयमें वह ज्योति-स्वरूप ब्रह्मरन्ध्रको भेदन कर परमशिव शून्याकार चिदाकाशमें प्रवेश-कर परब्रह्ममें लीन हो जाता है ।। ७८ ।।

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिनमध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां
तां वंदे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम् ।। ७९।।

मणिपूरचक्रमें शुक्लवर्ण कमल चिंतनपूर्वक उसके मध्यमें निर्मल सूर्यमंडलका ध्यान करना, इस मंडलके मध्यमें सत्त्व, रज, तम, त्रिगुणरूप उपाधिभेदसे तीन प्रकारसे विद्यमान सुषुम्नानाडीके द्वारमें संसार-कारणरूपा त्रैलोक्यको उत्पन्न करनेवाली जन्ममरणो-पाधिग्रस्त मनुष्योंको उपासनामार्गसे मोक्षरूप परमधर्म देनेवाली त्रिगुणरूपा ज्ञानस्वरूपिणी जिसकी स्तुति ब्रह्मादिदेवता और सनकादि सिद्ध करते हैं तथा योगमात्रसे गम्या, ज्ञानमात्र उपाधि-युक्ता छिन्नमस्ता नाडी स्वरूप भासमान हो रही कुंडलिनीको स्तुति (अभिवादन) करता हूं, इस प्रकार योगी छिन्नमस्ता महा-विद्यारूपा कुंडलिनीकी वंदना करें ।। ७९ ।।

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। ८० ।।

सहस्रों अश्वमेध, सैकड़ों वाजपेय यज्ञोंका फल भी केवल सात्विक एक ध्यानावस्थाके सोलहवें अंश (भाग) के समान नहीं है, अर्थात् यज्ञादि साधनाओंसे भी ध्यानयोग श्रेष्ठ है ।। ८० ।।

इति ध्यानप्रकरणम्

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्वमात्माभिधीयते ।। ८१ ।।

अब १५ श्लोकमें समाधिविधि कहते हैं प्रकाश युक्त आत्मा उपाधि तथा आत्मचैतन्यको तत्व कहते हैं । उपाधि और तत्त्व

ये दोनों ही मुख्यतया विचार्य्यं हैं, उपाधि प्रणवरूप वर्ण ॐ है तत्त्व आत्मा कहलाता है ।। ८१ ।।

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्वसंस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ।। ८२ ।।

उपाधिसे यथार्थ वैषयिक अन्य ही हैं अर्थात् विपरीत बोधक हैं जैसे स्फटिक तो श्वेत है परन्तु लाल, पीला, नीला आदि रंग उपाधि संबंधसे वह भी उसी रंगकासा भासमान होता है, वैसे ही शरीरमें निर्विकार शुद्ध आत्मा विषयवासनाओंके संसर्गसे "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि का अनुभव करता है, जब अपनी निर्मल बुद्धिसे उपाधि पृथक् माने तब आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान होता है । जैसे रक्तादि रंगमें स्फटिक भी वैसा होता है परन्तु बुद्धिसे स्फटिक तो शुक्लही है किन्तु रक्तादि रंगोपाधिविकारसे मिथ्या रंग देखा जाता है, वैसेही इंद्रियधर्मोंसे आत्मा भी जीवात्मा संबंधी यथार्थज्ञानसे अद्वैतानंदस्वरूप है, सुखदुःखका इसमें संबंध नहीं है, यह ज्ञान योगाभ्याससे होता है । और इस ज्ञान के होने पर उपाधिजाल विनाश करनेमें समर्थ होता है ।। ८२ ।।

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ।। ८३ ।।

ध्यान एवं समाधिका अवस्थाभेद कहते हैं–ध्यानावस्था में स्थिर रहते योगीके कर्णादि इंद्रियोंमें शब्दादि विषयोंका सूक्ष्मभाग भी जब तक प्राप्त होता है तभी तक ध्यानावस्था कहलाती है जब आत्मामें पचेंद्रियवृत्ति लीन हो जाय तब आत्मामें अर्थमात्रका भान रहनेवाली अवस्था समाधि कहाती है ।। ८३ ।।

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडीभिः ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ।। ८४ ।।

ध्यान धारणा समाधिका प्रमाण कहते हैं–प्राणवायुके व्यापार रोकनेमें पांच घटीपर्यंत धारणा कहलाती है, ऐसेही ६० घटीसे ध्यान

और बारह अहोरात्रपर्यन्त प्राणवायुका निरंतर रोकना ही समाधि कहलाती है ॥ ८४ ॥

यत्सवं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ॥ ८५ ॥

दृष्टांतसहित समाधिका स्वरूप कहते हैं—भूख-प्यास, शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वंद्व कहलाते हैं, इनसे पीडा न होने तथा इनसे उद्वेग न होनेका जो ऐक्य है अर्थात् जीवात्मा-परमात्माका कारणमात्र रूपसे ऐक्य जाने । समस्त संकल्प-विकल्पोंका दूर होना ही समाधि कहलाती है ॥ ८५ ॥

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ८६ ॥

जीवात्मा परमात्माका तथा आत्मा और मनका ऐक्य न हुए में सिद्धि नहीं होती, अतएव दृष्टांतसहित कहते हैं कि जैसे जलमें सेंधानोन (सैंधव) देनेसे दोनोंका ऐक्य दीखता है वैसे ही बाह्य विषयोंसे विमुख होकर अंतर्मुख होने पर आत्माकारवृत्ति होनेसे आत्मा और मनका ऐक्य होता है इस जीवात्मापरमात्माके ऐक्यको समाधि कहते हैं ॥ ८६ ॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ८७ ॥

मन एवं प्राणको एकत्र करके स्थिर होकर आत्माकी भावना करनेवाले योगीकी जब प्राणवायु आत्माहीमें लीन होती है, तब अंतःकरण भी लीन होता है जल तथा सैंधवकीसी जीवात्मापरमात्माकी ऐक्यता (अभिन्न स्वरूपता) होती है इसीको समाधि कहते हैं ॥ ८७ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ८८ ॥

योगीके समाधिमें रहनेकी अवस्था कहते हैं–जो योगी समाधि में एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो सर्व इंद्रियोंको मनमें लीनकर गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयोंको नहीं जानता, कोई वस्तु अपनी या परायी नहीं मानता तथा जीवात्मा परमात्माको अलग नहीं मानता, एकही समझता है। इस प्रकारके ध्यान करने वाले योगी को अन्य किसी वस्तुका भान नहीं होता है ।।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।। ८९ ।।

जब योगी उक्त विधिसे समाधियुक्त हो जाता है तो समस्त शस्त्रोंसे अभेद्य (न कटने योग्य) होता है, देही (मनुष्य) सिंह गज, व्याघ्र आदियोंसे नहीं मारा जाता और मंत्र, यंत्र, मारणमोहनादि प्रयोग भी उसपर नहीं चलता है ।। ८९ ।।

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगीः युक्तः समाधिना ।। ९० ।।

जब योगी समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसको जरा (बुढ़ापा) एवं मरण (मृत्यु) पीड़न नहीं कर सकते, अर्थात् अजरामर हो जाता है। उसपर कालका वश नहीं चलता, पापपुण्य हैं हेतु जिसके ऐसे कर्मबंधनोंसे लिप्त नहीं होता, कोई उसे विषयवासनामें नहीं लगा सकता और किसीके साधनमें यह नहीं आता ।। ९० ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुखहा ।। ९१ ।।

मिताहारयुक्त व्यवहारमें रहकर जो योगी समस्तकर्मोंमें युक्त रहता है और निद्रा-जागरण भी युक्त रखता है अर्थात् कोई काम भी अयुक्त नहीं करता तथा पूर्वोक्त क्रियाओंमें सावधान रहता है उसका योग दुःखनाशक कहलाता है ।। ९१ ।।

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
निराश्रयं निराकारं तत्वं जानाति योगवित् ।। ९२ ।।

जय योगी उक्त विधिसे समाधिमें स्थिर हो जाता है तब परमतत्व जिसका आद्यंत नहीं, किसीके आलंबन (निमित्त) में नहीं, माया आदि किसीके आश्रयमें नहीं, द्वैतकल्पनामें नहीं, ऐसे जीवात्मा-परमात्माके ऐक्य आत्मस्वरूप तत्वको जानता है ।। ९२ ।।

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।

व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।। ९३ ।।

निर्मल (कर्मके फल वासनारूप मलसे रहित), निश्चल (चेष्टारहित), नित्य (परिणामरहित), निष्क्रिय (सर्वव्यापारशून्य), निर्गुण (सत्वादिगुणरहित), महत् जिसका (परिणाम नहीं किया जाता ऐसे), व्योम (चिदाकाशस्वरूप), विज्ञान (बोधस्वरूप), आनंदब्रह्म (अद्वैतानंदस्वरूप), ब्रह्मको, ब्रह्मविद (योगी) जानते हैं ।। ९३ ।।

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम् ।

व्योम विज्ञानमानन्दं तत्वं तत्वविदो विदुः ।। ९४ ।।

साक्षात्कारताके लिये हेतु एवं दृष्टांतसे रहित तथा मन एवं बुद्धि द्वारा अगम्य चिदाकाशस्वरूप, बोधस्वरूप, अद्वैतानंदस्वरूप तत्त्व (ब्रह्म) को ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं ।। ९४ ।।

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये ।

योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते । ९५ ।।

योगाभ्यासी पुरुष षडंगयोगको पूर्वोक्तविधिसे अभ्यास करके जन्ममरणादि दुःखके स्पर्श न होनेवाले अवलंबनरहित एवं जिसको कोई आधार नहीं अनिर्वचनीय रोगादिरहित परब्रह्ममें लीन होता है अर्थात् सायुज्यपदको प्राप्त होता है ।। ९५ ।।

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।

क्षीरं क्षीरे तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ।। ९६ ।।

जैसे घृतमें घृत मिलाने से घृत तथा दुग्धमें दुग्ध मिलाने से दुग्ध ही होता है ऐसेही तत्वस्वरूप परब्रह्ममें योगाभ्यास द्वारा लीन

योगी भी परब्रह्मस्वरूप सायुज्यको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि जीव और परब्रह्मका सांसारिकदशामें उपाधि द्वारा भेद होने पर भी उपाधि के नष्ट होनेपर दोनों चिद्रूप होकर ऐक्यता को प्राप्त होते हैं ।। ९६ ।।

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ।। ९७ ।।

जैसे दुग्धमें दुग्ध, घृतमें घृत अग्निमें अग्नि मिलानेसे उन दोनोंका ऐक्य हो जाता है वैसेही योगी की आत्मा परब्रह्ममें लीन होकर परब्रह्ममय हो जाती है। आत्मा परमात्मा एक ही है परंच उपाधि भेदसे पृथक् है । अभ्यासने उपाधिरहित होता है और तब उनकी ऐक्यता आपही प्रकट होती है ।। ९७ ।।

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ।। ९८ ।।

योगाभ्यास करनेवालोंके जन्मरमणादि भय हरनेवाला मुक्तिद्वारमें जानेके लिये सोपान (सीढी) सदृश एवं धर्म, अर्थ, काम देनेवाला गुप्तसे भी अतिगुप्त यह योगशास्त्र श्रीगोरक्षनाथने योगियोंपर कृपा कर संसारमें प्रकट किया ।। ९८ ।।

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ।। ९९ ।।

पूर्वोक्त विधि से यहां तक मुक्तिसोपान अन्वयार्थ गोरक्षसंहिता संज्ञक योगशास्त्रको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पढ़ता है वह समस्त पातकोंसे निर्मुक्त होकर निश्चय योगसिद्धिको प्राप्त करता है।९९।।

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ।। १००।।

जो नित्य योगशास्त्र पढ़ते हैं उन्हें और शास्त्रोंसे क्या प्रयोजन है, योगशास्त्रका यथोक्त प्रत्यक्ष फल मिलता है क्योंकि यह शास्त्र

आदिनाथ (शिवजी) के मुखकमलसे प्रगट हुआ है और अनुभवसिद्ध होनेसे अतिप्रामाणिक है ।। १०० ।।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः ।
स्वाद्वन्नेन तर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः ।। १०१ ।।

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके
उत्तरशतकं सम्पूर्णम् ।। २ ।।

मोक्षके प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रको जो पढ़ते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जिसका मन ब्रह्मज्ञानविचारमें और ब्रह्मध्यान विषयमें क्षणमात्रभी धैर्य्यसे स्थिर होता है उसने गंगा, प्रयाग, पुष्करादि समस्त तीर्थोंके जलोंमें स्नानकर लिया, समस्तपृथ्वीका दान सत्पात्र ब्राह्मणको दे दिया, सहस्र किंवा अयुत अश्वमेध वाजेपयादि महायज्ञ कर लिये, ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि समस्त देवता विधिपूर्वक पूजित कर लिये स्वादिष्ट अन्नसे पितर तृप्त करके स्वर्ग भेज दिये, इन समस्त सत्कर्मों से जो फल मिलते हैं वे समस्त आत्मचिंतनरूप योगाभ्याससे तत्क्षणप्राप्त हो जाते हैं ।। १०१ ।।

इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायां माहीध-
र्य्यामुत्तरशतकं परिपूर्णम् ।। २ ।।

श्रीनाथीकृपया मया विरचिता भाषा स्वबुद्ध्याल्पया
सर्वेषामुपकारिणी बुधजनाः शब्दार्थसंधायिनः ।
भाषा इत्यवहेलनं कुरुत नो योगो हि न ज्ञायते ।
शब्दार्थैर्विविधैर्यतो हठयुगादीन् वीक्ष्य विस्तारिता ।।१।।

भाषाकारकी प्रस्तावना है कि मैंने श्रीनाथ (आदिनाथ) महादेवस्वरूप श्रीगुरु यद्वा श्रीनाथ (लक्ष्मीपति विष्णु) की कृपासे

सर्वसाधारणके उपकारार्थ अपनी अल्पबुद्धिसे इस योगशास्त्र गोरक्ष-संहिताकी भाषाटीका की है, इसे देख कर न्यायव्याकरणको जानने-वाले बुधजन 'भाषा है' ऐसा कहकर अवहेलना (अनादर) न करें, यतः यह निश्चय है कि योगमार्गका बोध अनेक प्रकारके शब्दार्थ एवं शास्त्रार्थ तर्कवितर्कादि करनेसे नहीं होता यह केवल गुरुलभ्य है, कोई पंडित चाहे कि अपने पांडित्यके बलसे लोकार्थ करे तो यह कदापि नहीं हो सकता । प्रथम गुरुलक्ष्यानुसार स्वानुभव-सिद्धि करनेसे ही इसका ज्ञान होता है, इसलिये गुरुप्रसादोत्तर हठप्र-दीपादि ग्रन्थ देखकर यह ग्रन्थ बढ़ा दिया तथा भावार्थ भी यथामति प्रकट कर दिया ।। १ ।।

वसुवेदांकभू १९४८ संज्ञे वत्सरे मासि बाहुले ।
महीधरेतिनाम्नेयं टीहर्य्यां निर्मिता शुभा ।। २ ।।

विक्रमीसम्वत् १९४८ के कार्तिकमासमें महीधरशर्माने यह सुन्दर भाषा राजधानी टीहरीमें रची ।। २ ।।

इति गोरक्षपद्धतिः समाप्ता

हमारे प्रकाशनों की अधिक जानकारी व खरीद के लिये हमारे निजी स्थान

खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
९१/१०९, खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७ वी खेतवाडी बॅक रोड कार्नर, मुंबई - ४०० ००४.
दूरभाष/फैक्स-०२२-२३८५७४५६.

खेमराज श्रीकृष्णदास
६६, हडपसर इण्डस्ट्रियल इस्टेट,पुणे - ४११ ०१३.
दूरभाष-०२०-२६८७१०२५, फैक्स -०२०-२६८७४९०७.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस बिल्डिंग,
जूना छापाखाना गली, अहिल्याबाई चौक,
कल्याण, जि. ठाणे, महाराष्ट्र - ४२१ ३०१.
दूरभाष - ०२५१-२२०९०६१.

खेमराज श्रीकृष्णदास
चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१ ००१.
दूरभाष - ०५४२-२४२००७८.

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS

